कवि परिचयः सुदामा पांडेय 'धूमिल'

- ***जन्मः ई.स. 1936 , मृत्युः ई.स. 1975***
- ***धूमिल की कविता में लोकतांत्रिक मूल्यों के ह्रास और सामाजिक- सांस्कृतिक विसंगतता के कारण कविता में आक्रोश, असंतोष, असहमति और क्षोभ का भाव विशेष है ।***
- ***धुमिल का अकविता आंदोलन से प्रभावित होने से उनकी कविताओं में नकारात्मकता एवंयौन प्रतीकों का चित्रण भी हुआ है ।***
- ***उनकी कविता में साधारण मनुष्य के शोषण एवं अत्याचार की गहरी पीड़ा छिपी हुई है।***

कविता संग्रहः

1. संसद से सड़क तक 2. कल सुनना मुझे 3. सुदामा पांडेय का प्रजातंत्र

- ***मृत्योपरांत 'कल सुनना' मुझे के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार दिया गया ।***

धूमिल' (1936-1975 ई.) जनसरोकार के कुशल चितेरे हैं । "उनकी कविता हत्यारों के ख़िलाफ़ एक लड़ाई है । उनके दोनों काव्य-संग्रहों– 'संसद से सड़क तक' (1972 ई.) और 'कल सुनाना मुझे' (1977 ई.) – में हत्यारों को अनेक रूप-रंगों में देखा जा सकता है।"[1]

धूमिल का एक और काव्य-संग्रह है– 'सुदामा पांडेय का प्रजातंत्र' । 'कल सुनाना मुझे' और 'सुदामा पांडेय का प्रजातंत्र'– ये दोनों संग्रह कवि की मृत्यु के बाद छपे हैं । धूमिल विद्रोही पीढ़ी के कवि हैं । उनकी कविताएं एक ओर व्यक्तिगत और सामूहिक, सामाजिक और राजनितिक विद्रूपताओं, विसंगतियों और विषमताओं के कारण उत्पन्न दुख-दर्द, उत्पीड़नजनित त्रासद स्थिति और जीवन के सड़ांध को तीव्रता से उभारने में सक्षम हैं, तो दूसरी ओर स्थिति के विषमता के ख़िलाफ़ विद्रोह और आक्रोश को ज़ोरदार अंदाज़ में व्यक्त करती हैं । धूमिल के साहित्य-जगत् में आने से पहले आलोचना कहानी-केन्द्रित थी, लेकिन धूमिल के आते ही यह कविता केन्द्रित हो गई ।

रोटी और संसद - धूमिल

एक आदमी
रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है
वह सिर्फ़ रोटी से खेलता है
मैं पूछता हूँ--
'यह तीसरा आदमी कौन है ?'
मेरे देश की संसद मौन है।

I उच्च वर्ग 10 %

2 मध्यम वर्ग 30 %

3 निम्न वर्ग 60 %

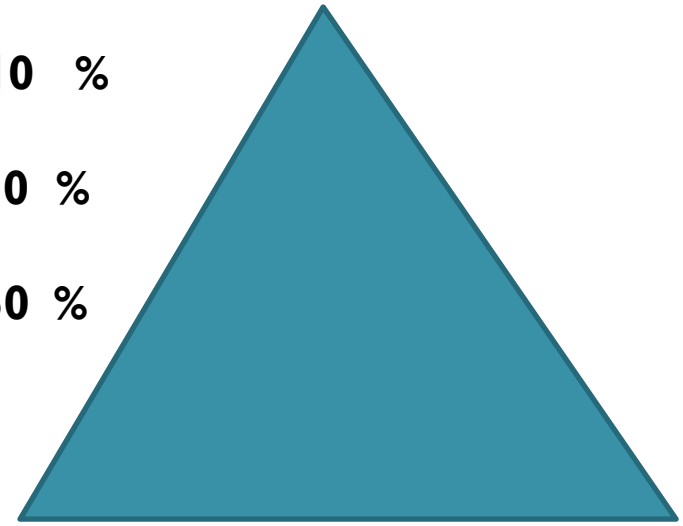

काव्य - मोचीराम
कवि- धूमिल

राँपी से उठी हुई आँखों ने मुझे
क्षण-भर टटोला
और फिर
जैसे पतियाये हुये स्वर में
वह हँसते हुये बोला-
बाबूजी सच कहूँ- मेरी निगाह में
न कोई छोटा है
न कोई बड़ा है
मेरे लिये,हर आदमी एक जोड़ी जूता है
जो मेरे सामने
मरम्मत के लिये खड़ा है।

और असल बात तो यह है
कि वह चाहे जो है
जैसा है,जहाँ कहीं है
आजकल
कोई आदमी जूते की नाप से
बाहर नहीं है
फिर भी मुझे ख्याल है रहता है
कि पेशेवर हाथों और फटे जूतों के बीच
कहीं न कहीं एक आदमी है
जिस पर टाँके पड़ते हैं,
जो जूते से झाँकती हुई अँगुली की चोट छाती पर
हथौड़े की तरह सहता है।

यहाँ तरह-तरह के जूते आते हैं
और आदमी की अलग-अलग 'नवैयत'
बतलाते हैं

सबकी अपनी-अपनी शक्ल है
अपनी-अपनी शैली है
मसलन एक जूता है:
जूता क्या है-चकतियों की थैली है
इसे एक आदमी पहनता है
जिसे चेचक ने चुग लिया है
उस पर उम्मीद को तरह देती हुई हँसी है
जैसे 'टेलीफ़ून ' के खम्भे पर
कोई पतंग फँसी है
और खड़खड़ा रही है।

'बाबूजी! इस पर पैसा क्यों फूँकते हो?'
मैं कहना चाहता हूँ
मगर मेरी आवाज़ लड़खड़ा रही है
मैं महसूस करता हूँ-भीतर से
एक आवाज़ आती है-'कैसे आदमी हो
अपनी जाति पर थूकते हो।'
आप यकीन करें,उस समय
मैं चकतियों की जगह आँखें टाँकता हूँ
और पेशे में पड़े हुये आदमी को
बड़ी मुश्किल से निबाहता हूँ।

उसे जाना कहीं नहीं है
मगर चेहरे पर
बड़ी हड़बड़ी है
वह कोई बनिया है
या बिसाती है
मगर रोब ऐसा कि हिटलर का नाती है
'इशे बाँद्धो,उशे काट्टो,हियाँ ठोक्को,वहाँ पीट्टो
घिस्सा दो,अइशा चमकाओ,जूत्ते को ऐना बनाओ
...ओफ्फ़! बड़ी गर्मी है'
रुमाल से हवा करता है,
मौसम के नाम पर बिसूरता है
सड़क पर 'आतियों-जातियों' को
बानर की तरह घूरता है
गरज़ यह कि घण्टे भर खटवाता है
मगर नामा देते वक्त
साफ 'नट' जाता है
शरीफों को लूटते हो' वह गुर्राता है
और कुछ सिक्के फेंककर
आगे बढ़ जाता है अचानक चिंहुककर सड़क से उछलता है
और पटरी पर चढ़ जाता है
चोट जब पेशे पर पड़ती है
तो कहीं-न-कहीं एक चोर कील
दबी रह जाती है
जो मौका पाकर उभरती है
और अँगुली में गड़ती है।

मगर इसका मतलब यह नहीं है
कि मुझे कोई ग़लतफ़हमी है
मुझे हर वक्त यह खयाल रहता है कि जूते
और पेशे के बीच
कहीं-न-कहीं एक अदद आदमी है
जिस पर टाँके पड़ते हैं
जो जूते से झाँकती हुई अँगुली की चोट
छाती पर
हथौड़े की तरह सहता है
और बाबूजी! असल बात तो यह है कि ज़िन्दा रहने के पीछे
अगर सही तर्क नहीं है
तो रामनामी बेंचकर या रण्डियों की
दलाली करके रोज़ी कमाने में
कोई फर्क नहीं है
और यही अपने पेशे से छूटकर
भीड़ का टमकता हुआ हिस्सा बन जाता है
सभी लोगों की तरह
भाषा उसे काटती है
मौसम सताता है
अब आप इस बसन्त को ही लो,
यह दिन को ताँत की तरह तानता है
पेड़ों पर लाल-लाल पत्तों के हजा़रों सुखतल्ले
धूप में, सीझने के लिये लटकाता है
वह जगह है जहाँ हर आदमी

सच कहता हूँ-उस समय
राँपी की मूठ को हाथ में सँभालना
मुश्किल हो जाता है
आँख कहीं जाती है
हाथ कहीं जाता है
मन किसी झुँझलाये हुये बच्चे-सा
काम पर आने से बार-बार इन्कार करता है
लगता है कि चमड़े की शराफ़त के पीछे
कोई जंगल है जो आदमी पर
पेड़ से वार करता है
और यह चौकने की नहीं,सोचने की बात है
मगर जो जिन्दगी को किताब से नापता है

जो असलियत और अनुभव के बीच
खून के किसी कमज़ात मौके पर कायर है
वह बड़ी आसानी से कह सकता है
कि यार! तू मोची नहीं ,शायर है
असल में वह एक दिलचस्प ग़लतफ़हमी का
शिकार है

जो वह सोचता कि पेशा एक जाति है
और भाषा पर
आदमी का नहीं,किसी जाति का अधिकार है
जबकि असलियत है यह है कि आग
सबको जलाती है सच्चाई
सबसे होकर गुज़रती है
कुछ हैं जिन्हें शब्द मिल चुके हैं
कुछ हैं जो अक्षरों के आगे अन्धे हैं
वे हर अन्याय को चुपचाप सहते हैं
और पेट की आग से डरते हैं
जबकि मैं जानता हूँ कि 'इन्कार से भरी हुई एक चीख़'
और 'एक समझदार चुप'
दोनों का मतलब एक है-
भविष्य गढ़ने में ,'चुप' और 'चीख'
अपनी-अपनी जगह एक ही किस्म से
अपना-अपना फ़र्ज अदा करते हैं।

काव्य की प्रस्तुति समाप्त
धन्यवाद
डॉ.करसन रावत